Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. 16, Issue No. 2, February-2019, ISSN 2230-7540

भक्तिकाल और परम्परा का मूल्यांकन

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar

सार – *हिन्दी की शुरूआती प्रगतिशील आलोचना तथ्यों के वस्तुगत विश्लेषण से इतर साहित्य को अपने तरीके से विवेचित और व्याख्यायित कर रहा था। विवेचना का सर्वाधिक विवादास्पद पक्ष प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन को लेकर रहा है। प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा-पत्र तक में पिछली दो सदियों तक के साहित्य को 'लज्जास्पद काल' तक घोषित कर दिया गया। जबकि इसी 'लज्जास्पद काल' में हिन्दी साहित्य का सबसे उत्कृष्ट साहित्य 'भक्ति साहित्य' भी आता है। भक्तिकाल तथा इसके मूल्यांकन की समस्या प्रगतिवादी आलोचकों के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य था। साथ ही मूल्यांकन का आधार क्या होने चाहिए? माक्र्सवाद कहाँ तक इस मूल्यांकन में हमारी सहायता कर सकता है? माक्र्सवाद और प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में रामविलास शर्मा कहते हैं- "प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में हमें माक्र्सवाद से यह सहायता मिलती है कि हम उसकी विषयवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उन तत्वों को पहचान सकते हैं जो प्राचीन काल के लिए उपयोगी थे, किन्तु आज उपयोगी नहीं रह गए।"[1] प्राचीन साहित्य हो या अर्वाचीन वह किसी खास परिस्थिति में ही रचा जाता है। इसीलिए उस युग की छाप उस साहित्य पर पड़ता है। हाँ, लेकिन एक ध्यान देने लायक बात यह है कि "सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती है, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है।"[2]*

----------X----------

मध्यकालीन भक्ति साहित्य के मूल्यांकन के क्रम में हमें उपरोक्त तथ्य का ख्याल रखना चाहिए। मध्यकालीन भक्ति कविता के मूल्यांकन के क्रम में जब संत कवियों का मूल्यांकन करने जाते हैं तो उन पर पलायनवाद का आरोप मढ़ दिया जाता है। पलायनवाद का यह आरोप उन कवियों की कविता में पाये जाने वाले रहस्यवाद को लेकर लगाया जाता है और उन्हें जीवन से विमुख, समाज निरपेक्ष मान लिया जाता है। लेकिन "संत कवि पलायनवादी नहीं थे। मध्यकालीन साहित्य के वे एक मात्र क्रांतिकारी कवि थे। सामन्ती जड़ता, जातीय विद्वेष और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा। जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे उन्होंने ऊपर उठाया। उनके साहित्य को पढ़कर निराशा, पराजय और दीनता के भाव नहीं उत्पन्न होते, बल्कि आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना ही पुष्ट होती है। निस्संदेह उनके साहित्य में भी असंगतियाँ थीं। अन्धविश्वास और निराशा की झलक उनके गीतों में मिलती है, परन्तु यह उनके गीत का मूल स्वर नहीं है।"[3] भक्ति आंदोलन के धार्मिक स्वरूप के साथ इसके असंगठित रूप के ऊपर भी कई आरोप प्रगतिशील आलोचकों ने लगाया है। रामविलास शर्मा इस तरह के आरोप का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं "सन्तकवियों की सीमाएँ थीं। उनके जमाने में जनता का कोई संगठित आंदोलन न था, इसलिए सामन्ती उत्पीड़न से मुक्त होने की लालसा सीधे राजनीतिक रूप में प्रकट न होकर धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक रूप लेती थी। केवल धार्मिक रूप होने से उसका क्रांतिकारी रूप कम नहीं हो जाता है।"[4]

माक्र्सवादी आलोचकों के बीच सर्वाधिक विवाद 'तुलसीदास' के मूल्यांकन को लेकर रहा है। शुरूआती माक्र्सवादी रचनाकारों ने अपने मूल्यांकन के क्रम में तुलसीदास को विवादग्रस्त ज्यादा बना दिया। यशपाल ने तुलसीदास को केवल सवर्ण हिन्दू जनता का माना है। "तुलसी का भक्ति-मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।" साथ ही रामचरितमानस की महत्ता बताते हुए कहते हैं"[5] इसके वर्ण-व्यवस्था के समर्थन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता और स्वामी-वर्ग के अधिकारों के समर्थन को जो स्थान 'रामचरितमानस' में दिया गया है, वही उसका मुख्य अंग है।"[6] रांगेय राघव तुलसीदास:एक दृष्टिकोण शीर्षक लेख में तुलसीदास पर आरोप लगाते हुए कहते हैं "तुलसी ने भक्ति की लहर में ब्राह्मणवाद को ढीला नहीं किया, वरन् उसे जटिल किया और हमदर्दी का लेखा-जोखा करके कहा कि असल में वेदपथ भूल जाने के कारण यह सब हुआ है। भागवत ने भक्तिहीनता के कारण ब्राह्मण की निंदा की थी, भक्ति को ऊँचा कहा था। पर तुलसी ने कहा

www.ignited.in

कि भक्ति अच्छी है और वही अच्छी है जो वेद सम्मत है। सबसे बड़ा भेद तो यही है कि तुलसी ने हिन्दी का प्रयोग जनहित के लिए इतना नहीं किया जितना ब्राह्मणवाद के पुनर्संगठन के लिए।"[7] तुलसीदास की कविता पर लगाए जा रहे आरोप का खण्डन माक्र्सवादी आलोचना के भीतर पहली बार रामविलास शर्मा करते हैं और तुलसीदास को 'हिन्दी भाषी जनता का कवि' घोषित करते हैं।

"दो तरह के लेखकों ने तुलसी-साहित्य का मूल्यांकन बहुत आसान बना दिया है। पहली तरह के लेखक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा कर ली और राम, सीता आदि के चरित्रों द्वारा हिन्दू समाज और हिन्दू संस्कृति के लिए अमर आदर्शों की प्रतिष्ठा कर दी। दूसरी तरह के आलोचक वे हैं जो समझते हैं कि तुलसीदास ने वर्णाश्रम धर्म के छिन्न-भिन्न होने के समय फिर ब्राह्मणवाद का समर्थन किया, नारी की पराधीनता आदर्श रूप में रखी और जनता को भक्तिरूपी अफीम की घूंटी देकर सुला दिया।

पहली तरह के आलोचक तुलसीदास को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए उन्हें हिन्दू धर्म का उद्धारक मानते हैं। दूसरी तरह के आलोचक उन्हें प्रतिक्रियावादी कहते हैं, उनकी कला का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उनकी विचारधारा को प्रगति-विरोधी मानते हैं। दोनों तरह के आलोचक - श्रद्धा के बावजूद-एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं और वह यह कि तुलसीदास जर्जर होती हुई सामन्ती संस्कृति के पोषक थे, इसलिए आज की जातीय संस्कृति के निर्माण में- "ऊँची' जाति और 'नीची' जाति के हिन्दुओं, मुसलमानों आदि की मिली-जुली संस्कृति के निर्माण में- उनकी विचारधारा कोई मदद नहीं कर सकती।

दोनों तरह के आलोचक भारतीय जनता को-खासकर हिन्दी भाषी जनता को- तुलसीदास की सांस्कृतिक विरासत से वंचित कर देते हैं।"[8] रामविलास शर्मा तुलसीदास के ऊपर लगाए जा रहे तमाम आरोपों का खण्डन करते हैं। 'तुलसी की भक्ति', 'भक्ति आंदोलन और तुलसीदास', 'तुलसी के सामन्त विरोधी मूल्य' और 'तुलसीदास के सौन्दर्यबोध' लेखों के माध्यम से तुलसी की महत्ता को बतलाते हैं। "तुलसी की भक्ति समाज के लिए अफीम नहीं थी। वह जन-जागरण का एक साधन थी। भक्त तुलसीदास मूलतः मानववादी है और उनके साहित्य की महत्ता वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों के वर्णन करने में है, जनसाधारण की वेदना और उससे मुक्ति की कामना का, जनता के नैतिक गुणों का चित्रण करने में है, न कि सेवक-भाव से कृपा की भिक्षा माँगने में।"

प्रकाशचन्द गुप्त ने तुलसीदास को 'धर्मभीरू हिन्दू सन्त' माना साथ ही कहा कि "उनकी मान्यताएँ बड़ी हद तक प्राचीन हिन्दू संस्कारों से प्रभावित थी।"[9] हालांकि इसी लेख में प्रकाश चन्द गुप्त का तुसली विरोध का यह स्वर दिखलाई नहीं पड़ता है। और "तुलसी साहित्य लोक-मंगल की भावना से ओत-प्रोत हैं"[10] की घोषणा करते हैं। तुलसी के मूल्यांकन के मानदण्ड में उनकी उच्च-निम्न वर्गीय भूमिका के साथ सगुण-निर्गुण स्वरूप का निर्धारण रहा है। रांगेय राघव इस भूमिका पर सवाल करते हैं और कहते हैं कि "तुलसी ने राम के वीर रूप में समाज की उस उच्छृंखलता का नाश किया जो ब्राह्मणवाद विरूद्ध थी। उसका नाश ही वह कलि का नाश कहते थे। अपनी बात को पहुँचाने के लिए उन्होंने कई भाषाओं का प्रयोग किया। ब्राह्मण स्वार्थ को जिस नए रूप की आवश्यकता थी, वह तुलसी ने दिया और निम्न वर्गों के विद्रोह को दाबकर उच्च वर्गों का सिरदर्द खत्म कर दिया। 6 सौ सालों से जो ब्राह्मण धर्म-शास्त्रों की टीका और व्यवस्था करके अपने को इस्लाम और उसके प्रभाव से बचाने का प्रयत्न कर रहे थे, तुलसी ने उन्हें आजाद कर दिया, इतना आजाद कर दिया कि पुराणकार का काम पूरा हो गया, दरबारी उच्च वर्ग विलास में लग गया।"[11]

जिस उच्च वर्गीय वर्चस्व की बात रांगेय राघव करते हैं, लगभग वही बात मुक्तिबोध 'मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन का एक पहलू लेख में कहते हैं। "एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास जी ने की थी।..... तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरूद्ध तुलसीदास ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।.....जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी- उत्पन्न की।"[12] तुलसीदास के संदर्भ में मुक्तिबोध का यह मूल्यांकन तुलसीदास तथा भक्ति आंदोलन का केवल एक पक्ष हो सकता है, यही एक पक्ष नहीं। तुलसी की कविता की कला और उसका प्रसार केवल पुराणवादी या उच्चवर्गीय जनता तक ही सीमित नहीं रहा। या, यों कहें कि उसका प्रसार आम तथा निम्नवर्गीय जनता के बीच ज्यादा हुआ। तुलसीदास की कविता में जहाँ जातिवाद समर्थक या वर्णाश्रम समर्थक भाव या पक्ष है, उसकी आलोचना अवश्य होनी चाहिए। क्योंकि कोई भी आधुनिक मनुष्य इन रूढ़िगत संकीर्णता में रहना नहीं चाहता। एक ऐसा मूल्य जिसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच अंतर हो, वर्ण, जाति, गोत्र जिसके

मूल्यांकन का आधार हो, पाशविकता की ओर ले जाने वाला मूल्य होगा, मानवतावादी तो कतई नहीं।

भक्ति-आंदोलन का स्वरूप अखिल भारतीय था। उत्तर से दक्षिण, पूरब से पश्चिम सम्पूर्ण भारत को इसने प्रभावित किया। "भक्ति आंदोलन विशुद्ध देशज आंदोलन है। वह सामन्ती समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था, वह मूलतः इसी सामन्ती समाज व्यवस्था से विद्रोह का साहित्य है।"[13] इस आंदोलन से उपजे साहित्य ने राष्ट्रीय एकता को सूत्रबद्ध तो किया ही साथ ही साथ जातीय एकता, प्रतिरोध की भावना तथा जीवन की आकांक्षा के स्वप्न को भी स्वरूप प्रदान किया।

भक्ति साहित्य, सगुण-निर्गुण, तुलसी, कबीर संबंधी बहस के आधार भूमि का निर्माण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा इनके मूल्यांकन के समय ही हो गया। भक्ति साहित्य (विशेषकर उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के संदर्भ में) को मुसलमानों के आक्रमण से पीड़ित हिन्दू जनता की प्रतिक्रिया मानना। निर्गुण भक्ति के बरक्स सगुण की महत्ता। कबीर का मूल्यांकन करते हुए शुक्ल जी कहते हैं "उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।"[14] साथ ही "भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं- कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है।"[15] इस तरह सरलीकृत रूप में आचार्य शुक्ल ने कबीर की कविता का मूल्यांकन कर, कबीर की काव्य प्रतिभा और उसके प्रभाव को नजरअंदाज कर बैठते हैं। इस नजरअंदाजी में कबीर के रहस्यवाद और लोकविमुखता को मुख्य कारक के रूप में गिना जाता है। भाषा का प्रश्न तो इसके साथ जुड़ा हुआ है ही।

आचार्य शुक्ल की उपरोक्त आरोपों का प्रत्याख्यान लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी आते हैं। भक्ति साहित्य न तो मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया थी और न ही 'पौरूष से हताश जाति' का दूसरा मार्ग। यदि मुसलमानों की प्रतिक्रिया में ही इसे पैदा होना था "तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर वह हुई दक्षिण में।"[16] कबीर की जिस भाषा को लेकर आलोचना हो रही थी, द्विवेदी जी उसी को उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष बतलाते हुए कहते हैं "सच पूछा जाए तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य-लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उसकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचार पर आक्रमण करने वाले सन्तों और योगियों की कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंग से चकनाचूर कर देने वाली भाषा कबीर के पहले बहुत कम दिखायी दी है।"[17] कबीर के लिए भाषा का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण न था फिर भी "उनकी भाषा में बहुत सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।"[18]

माक्र्सवादी आलोचना के भीतर सगुण-निर्गुण विवाद पर काफी बहस है। रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध आदि आलोचकों ने सगुण-निर्गुण के स्वरूप से लेकर इसके महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास किया है। सन्त साहित्य की भूमिका, इसके सामाजिक आधार, सन्त कवियों का धार्मिक रूप, इनकी समन्वयकारी भूमिका, तथा इनके दार्शनिक आधार को लेकर माक्र्सवादी आलोचना ने गंभीर कार्य किया है। इस कार्य में कहीं-कहीं एकांगिता के भाव का ज्यादा प्रभाव है। रामविलास शर्मा सगुण-निर्गुण विवाद को बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं देते हैं। वे दोनों के सम्मिलत स्वरूप के आधार पर भक्ति-साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। सन्त साहित्य के ऊपर धार्मिक प्रभाव को अस्वीकार करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं "सन्त-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्त्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में-या हिन्दू धर्म में- ढूँढ़ना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्त्रोत नहीं हैं। मलिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटिकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। सन्त साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो मूलतः किसी प्राचीन धर्मग्रन्थ पर निर्भर नहीं है।"[19]

रांगेय राघव सगुण-निर्गुण के स्वरूप को मानते हैं। तथा इसको ब्राह्मणवाद तथा गैर ब्राह्मणवाद या ब्राह्मणवाद विरोध से जोड़कर देखते हैं। सगुण काव्यधारा के कवियों को भक्त मानते हुए ब्राह्मणवाद के पोषक के रूप में उनका विश्लेषण करते हैं जबकि निर्गुण काव्यधारा के कवियों को संत मानते हुए ब्राह्मणवाद विरोध के कवि के रूप में विश्लेषण करते हैं। रांगेय राघव का मानना है कि "निर्गुण सन्त समाज में मुक्ति चाहते थे, परन्तु उनके पास समाज में उस व्यवस्था का विरोध करने के अतिरिक्त कोई उपाय न था जो उन्हें दबाती थी।[20] साथ ही "निर्गुण संत समाज के उन क्षेत्रों से आए थे, जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दबकर रहना पड़ता था। उनकी आत्मा को विकास करने का पूरा अवसर नहीं मिलता था और वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही छोटे-छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अंधविश्वास

www.ignited.in

और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्म-विश्वास अन्ततोगत्वा जागा।''[21] सगुण-निर्गुण स्वरूप विश्लेषण के क्रम में रांगेय राघव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास शर्मा के तुलसी सम्बन्धी मान्यताओं का खण्डन करते हैं तथा कबीर और निर्गुण धारा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं- ''एक संत परम्परा कबीर आदि की थी जो वेद विरूद्ध थी। जिसने वज्रयान और नाथ सम्प्रदाय का सामंत विरोधी रूप आत्मसात करके जाति-पांति के विरूद्ध झंडा उठाया था। दूसरी संत परम्परा थी सूर और तुलसी की जिसने एक ओर निर्गुण का मजाक उड़ाया था, दूसरी ओर वेद विहित मार्ग की प्रतिष्ठापना की। एक परम्परा उदार मानवीय परम्परा थी, दूसरी संकुचित मनोवृत्ति की।.....तुलसी ने ब्राह्मणवाद का पुनरूत्थान किया। उन्होंने ब्राह्मणों की वह धार्मिक परम्परा निभाई जो पुराणकारों में थी।''[22]

प्रगतिशील आलोचना के बाद के वर्षों में भक्ति आंदोलन, सगुण-निर्गुण तथा भक्ति कविता के संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विश्लेषण मुक्तिबोध का रहा है। अपने विश्लेषण के क्रम में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''निर्गुण मत के विरूद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरूद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचि वालों का संघर्ष था।''[23] आगे इसी में मुक्तिबोध निम्नवर्गीय भक्ति मार्ग की विशेषता को सामंतवाद विरोध के रूप में दिखलाते हैं ''निम्नवर्गीय भक्ति मार्ग निर्गुण-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस निर्गुण-भक्ति में तत्कालीन सामन्तवाद विरोधी तत्त्व सर्वाधिक थे किन्तु तत्कालीन समाज रचना के कट्टर पक्षपाती तत्वों में से बहुतेरे भक्ति-आंदोलन के प्रभाव में आ गये थे। इनमें से बहुत-से भद्र सामन्ती परिवारों में से थे। निर्गुण भक्ति की उदारवादी और सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा का उन पर भी प्रभाव हुआ।''[24] सगुण-निर्गुण और भक्ति-आंदोलन की व्याख्या के क्रम में मुक्तिबोध साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि को प्रस्तुत करते है। ''किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह है कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरूपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?''

अपने विश्लेषण के क्रम में मुक्तिबोध न केवल भक्ति-आंदोलन की उपलब्धि और सीमा को दर्शाते हैं अपितु साहित्य और परम्परा के मूल्यांकन के आधार को भी स्पष्ट करते हैं। भक्ति - आन्दोलन, सगुण-निर्गुण, कबीर-तुलसी आदि विषयों के विवेचन और मूल्यांकन के क्रम में माक्र्सवादी आलोचना ने न सिर्फ अपना विकास किया, अपितु हिन्दी आलोचना को भी काफी समृद्ध किया। परम्परा के विश्लेषण और मूल्यांकन के क्रम में माक्र्सवादी आलोचना के भीतर का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह का विवाद भी रहा है। जिसका एक परिणाम-'दूसरी परम्परा की खोज' के रूप में आता है तो दूसरा परिणाम-'लोक जागरण और हिन्दी साहित्य' के रूप में। इन दोनों पुस्तक में कबीर, तुलसी संबंधी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतों का विश्लेषण है। साथ ही भक्ति के स्वरूप तथा इसकी लोक पक्ष धरता को लेकर गंभीर आलोचनात्मक व्याख्या है। और है, आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि का मूल्यांकन भी।

भक्तिकाल संबंधी मूल्यांकन के बाद 'परम्परा के मूल्यांकन' का दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणा है।

संदर्भ-सूची

1. रामविलास शर्मा, माक्र्सवाद, साहित्य और प्रगतिशील, पृ0- 239, संस्करण- 1984, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. रामविलास शर्मा, आस्था और सौन्दर्य, पृ0- 69, संस्करण 1990, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. रामविलास शर्मा, माक्र्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, पृ0- 38, संस्करण- 1984, वाणी, नई दिल्ली
4. वही, पृ0- 38
5. वही, पृ0- 242
6. वही, पृ0- 242
7. रांगेय राघव, ग्रंथावली, पृ0- 217-218
8. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ0- 74, संस्करण- 2004, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

www.ignited.in

9. प्रकाशचन्द गुप्त, साहित्यधारा, पृ0- 49, प् संस्करण, 1956, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

10. वही, पृ0- 50

11. रांगेय राघव, ग्रंथावली, पृ0- 219

12. नेमीचंद्र जैन (सं0), मुक्तिबोध रचनावली खण्ड-5 पृ0- 291, तीसरा आवृत्ति, 2011 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

13. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ0- 93-94, संस्करण- 2004, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

14. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 43, संवत- 2059, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

15. वही, पृ0- 45

16. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ0- 59, 21वीं आवृत्ति, 2010 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

17. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ0- 132, 14वीं आवृत्ति 2008, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

18. वही, पृ0- 40

19. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ0- 46, संस्करण, 2004, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

20. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ0- 88

21. वही, पृ0- 44

22. नेमीचंद जैन (सं0), मुक्तिबोध रचनावली- खण्ड-5, पृ0- 291, तीसरी आवृत्ति, 2011, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

23. वही, पृ0- 295-96

24. वही, पृ0- 295

Corresponding Author

Dr. Asha Tiwari Ojha*

Associate Professor, Department of Hindi, Sunderwati Mahila College, Tilka Manjhi Bhagalpur University, Bihar

www.ignited.in